Chapter-6

षष्ठ अध्याय

नवगीतों में जनवादी चेतना की साहित्य समीक्षा

नवगीतों में जनवादी चेतना की साहित्य समीक्षा

साहित्य में जनवाद की पहचान 'लोक' से उठकर खड़ी हुई है। जनवादी साहित्य की नींव लोक-साहित्य के धरातल पर ही जमी हुई है। लोक साहित्य और जनवादी-साहित्य में सोच का बुनयादी अन्तराल है। इसी तरह नवगीत और जनगीत में भी वैचारिक प्रस्तुतियों के स्थापन का अन्तर है। लोक में ग्राम्यांचलीय सांस्कृतिक परिदृश्यों की प्रस्तुति हो तो जनवाद में अभिजात वर्ग के निर्धारित मानदंडों का पूर्वाग्रह है। और यही कारण है कि जनवादी साहित्य जो आम आदमी के बीच जन्मा था, वह धीरे-धीरे शिविर बद्ध होकर एक निश्चित अभिजात वर्गीय चिंतन से जुड़ गया और आगे चलकर इसी जनवादी साहित्य को कुछ विशिष्ट राजनीतिक मंचों ने अपनी बयानबाजी का मुहरा बना लिया और फिर धीरे-धीरे साम्यवादी चिन्तन की निर्धारित धुरी पर यह जनवादी साहित्य घूमता नजर आने लगा।

एक भेटवार्ता में जब प्रख्यात जनवादी चिंतन और प्रबुद्ध रचनाकार शिवराम से महेन्द्र नेह ने पूछा कि आपकी दृष्टि में जनवादी गीत (जन बोधी गीत / जनगीत) नवगीत का ही विकसित रूप है या इससे भिन्न? तो उन्होंने इस तथ्य को विश्लेषण करते हुए कहा– नवगीत जनवादी भी हो सकता है, जनबोधी भी। उसे होना ही चाहिए। 'नवगीत' का अभ्युदय जिस स्वरूप और जिस दिशा में हुआ वह जनवादी ही है। नवगीत जनवादी और जनबोधी भी हो सकता है तथा अभिजनबोधी भी।

मुझे तो ऐसे लगता है कि वर्तमान परिदृश्य में प्रगतिशील–जनवादी गीत अनेक रूप विधानों, रूप भंगिमाओं में प्रत्यक्ष हुआ और ये सब एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं है। इनमें मात्रात्मक भेद ज्यादा हैं, गुणात्मक भेद कम। सैली और शिल्प सम्बन्धी, छंद के व्याकरण सम्बन्धी भेदों को गुणात्मक भेद नहीं माना जा सकता। जीवन मूल्यों और कला मूल्यों के विषय में मेरे विचार में वे गुणात्मक रूप से भिन्न नहीं है। जनवादी गीत नवगीत के पहले भी था और अब भी है, वह उसका विकसित रूप भी है और भिन्न भी।

यह जरूर कहा जा सकता है कि नवगीतों में एक कलावादी धारा भी रूपाकार ग्रहण करती दिखाई देती है।

राधेश्याम बंधु की बात ठीक ही है कि, ''समर्पित नव गीतकारों ने पारम्परिक गीतों को उनकी आत्मनिष्ठ लिजलिजी भावुकता से निकालकर उनको मानवीय सरोकारों और नवीन उद्भावनाओं के युगीन संदर्भों से जोड़ने का सार्थक प्रयास किया। ...नवगीत केवल रागात्मक अनुभूतियों का गायक ही नहीं बल्कि वह मानवीय संवेदना और संघर्षशील जिन्दगी का जागरूक चितेरा और सच्चा हमसफर भी है। ...जो आदमी की पीड़ा में सिर्फ गुनगुनाता ही नहीं, बल्कि जिन्दगी की हर लड़ाई में

हमदर्द की तरह साथ भी देता है और ऊर्जा भी प्रदान करता है। यह उसकी जनवादी प्रवृत्ति ही है।

" रामदरश मिश्र भी ठीक कहते हैं कि सस्ती रोमानियत और कथ्यशिल्प में एकरसता और सपाटता व्याप्त हो गई तो नवगीत की लोक संपृक्ति और लोक से लिए टटके शब्दों एवं नये किन्तु परिचित बिम्बों से उसे जोड़ा, नया शिल्प दिया और इस तरह गीत को अर्थ घनत्व दिया। यह उसकी लोकोन्मुखता की प्रवृत्ति है।

जाहिर है नवगीत ने पूर्ववर्ती गीतों की दुनिया में गुणात्मक परिवर्तन किया। लेकिन बाद में और साथ-साथ भी नवगीत के शिल्प से भिन्न शिल्प और छंद व्याकरण में भी गीत लिखे जाते रहे और जीवन मूल्यों व कला मूल्यों के धरातल पर वे भी नवगीत की तरह परम्परागत गीतों के लिजलिजेपन से मुक्त और नए युगधर्म के अनुकूल हैं। लेकिन यह मानना चाहिए कि नवगीत के पहले भी क्रांतिकारी जनवादी गीत अस्तित्व में था, विभिन्न जनभाषाओं में भी और विकसित होती हिन्दी में भी। नवगीत जिन विशिष्टताओं के साथ उदित हुआ वे जनवादी विशिष्टताएँ ही है। उनमें वैकल्पिक समाज व्यवस्था का साफ नक्शा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी शामिल हो तो वह जनवादी गीत कहाएगा। जनवादी गीत, नवगीत के शिल्प और छंद व्याकरण से भिन्न शिल्प और छंद व्याकरण भी अपनाता है। वह नवगीत का तर्कसंगत विकास भी है।"[1]

सकारात्मक सोच की हिमायत करते हुए जब प्रश्न खड़ा होता है कि स्वातंत्र्योत्तर गीत, नवगीत और जनवादी गीत की संवेदना और संरचना में कौन से महत्वपूर्ण अन्तराल हैं? इसे स्पष्ट करते हुए शिवराम कहते हैं –

'मेरे ख्याल से इस प्रश्न का उत्तर पूर्व प्रश्नों के उत्तरों में आ गया है। ये गीत

---

[1] सम्यक-संपा. मदनमोहन उपेन्द्र, मथुरा, अंक-२८, पृ.९२-९३

की विकास यात्रा के महत्वपूर्ण पड़ाव है। स्वतंत्रता आंदोलन में गीतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही वे अपने कथ्य में साम्राज्यवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी थे। जाहिर है जनवादी थे। बल्कि रूस की क्रांति के फलस्वरूप उनके कथ्य में पूंजीवाद विरोधी क्रांतिकारी तेव भी जुड़े।

दूसरी तरफ छायावादी कविता थी और छायावादी गीत थे। "स्वतंत्रता की चेतना और व्यक्ति की स्वतंत्र अस्मिता और गरिमा की चेतना यहां भी थी। लेकिन वैसी मुखर नहीं थी। नवगीतकार, 'नवगीत' की उत्पत्ति जब निराला में पाते हैं, तो जाहिर है वे नवगीत की प्रवृत्ति को छायावादी मनोभूमि के अगले विकास के रूप में चिन्हते हैं। यह ठीक भी है, जिस पूर्ववर्ती गीत परम्परा के लिजलिजेपन और लोकविमुखता से उसे मुक्त करने की बात है, वह इसी छायावादी प्रवृत्ति के लिए ही उपयुक्त है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गीत की जो प्रगतिशील जनवादी धारा समानांतर रूप से चल रही थी उसने तो 'नवगीत' की उभरती परम्परा को प्रेरणा ही दी होगी। प्रगतिशील जनवादी धारा स्वातंत्र्योत्तर काल में और नवगीत के अस्तित्वमान होने के बाद भी समानांतर रूप से क्रियाशील रही। दरअसल 'नवगीत' छायावादी गीत परम्परा का जनवादी दिशा में विकास है। लेकिन साहित्य की अन्य विधाओं की तरह 'नये' की अवधारणा के साथ 'नवगीत' भी मध्यवर्गीय जीवनानुभवों और सौन्दर्य बोध की दिशा में चलता दिखाई देता है। यह दिशा क्रमशः मूल्यों और चेतना के धरातल पर प्रगतिशील जनवादी रहते हुए भी अभिजनोन्मुखी काव्य भाषा और रूप विधान की ओर उन्मुख होती है। यह दिशा कलावाद की गलियों में भी खुलती है। 'नवगीत' इस ओर प्रवृत्त भी है और इस स्थिति से संघर्षरत भी है। संघर्षरत धारा जनवादी और जनबोधी धारा के रूप में विकसित हो रही है। अभी ये अन्तर मूलतः काव्य भाषा और

रूप–विधान तक दिखाई देता है, लेकिन आगे चलकर अभिजनोन्मुखी धारा को कलावादी खेमे में शामिल होना ही है। जो 'नवगीत' के लिए मुफीद नहीं है।"[1]

"वस्तुतः जनवादी गीत या जनगीत मूलतः नवगीत के ही गोत्र की एक शाखा है। जनगीत के विस्तृत पटल पर वही वर्ण्य उत्कीर्ण है जो नवगीत की मूल संचेतना में समाविष्ट है। डॉ. विष्णु विराट का कथन है कि 'हर कालखण्ड में सामयिक साहित्य सृजन नवसाहित्य ही होता है, इसी तरह नवगीत भी निरंतर अग्रसरित कालखण्डों के परिवर्तित मूल्यों में अपनी पहचान दर्ज कराता रहा है, यहाँ 'नव–गीत' में 'नव' शब्द विशेषणावाची न होकर संस्कारवाची है, 'नवयुग के नव विहगवृन्द को....' कहकर निराला ने गीत में नई सोच को प्रस्थापित कर दिया था, गीत अपने स्वर्ण–पिंजरों को छोड़कर गगनचारी भी हुआ और धरती पर उतरकर खेत–खलिहानों में भी घूमा। नवगीत का शिलान्यास निराला से ही हो चुका था किन्तु नामकरण का आग्रह परवर्ती रहा है, बाद में नवगीत को 'फ्रेम्ड' भी करने का प्रयास किया गया, इसीक एक आचार संहिता भी घोषित की गई, नवगीत के नामकरण को लेकर भी चर्चाएँ हुईं, अब नामकरण राजेन्द्रसिंह ने किया या शम्भूनाथ सिंह ने उसे संस्थापित किया, इससे कोई सरोकार नहीं है। प्रथम चरण में नवगीत की जो आचार संहिता तय की गई थी, वह भी आज स्वीकार्य नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि छठे–सातवें दशक में नवगीत के वर्ण्य की एवं प्रस्तुति के अभिनव कलेवर की जो पृष्ठभूमि तय की गई थी, उसने नवगीत को एक अलग पहचान अवश्य दी, किन्तु तब से अब तक जो जीवन–मूल्य बदले हैं, उनके समानान्तर कविता की संचेतना भी बदली है, परिदृश्य भी बदले हैं और कथ्य के मुहावरे भी बदले हैं। इस संदर्भ में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि नवगीत का जो सामयिक स्वरूप है, वह कल बदलेगा भी, कथ्य और सोच की जमीन

---

[1] सम्यक– संपा. मदनमोहन उपेन्द्र, मथुरा, अंक २८ – पृ.१६

परिवर्तनशील है, उसे बदलना ही चाहिए, किन्तु इसके लिए नये नामकरण संस्कार की कोई जरूरत नहीं है, नवगीत का 'नव' शब्द नव्यता का बोधक है और सामयिकता के परिवर्तित सोचा का भी।"[1]

जनगीत और नवगीत दोनों का ही वर्ण्य आम आदमी की सहज संवेदना से जुड़ा हुआ है। नवगीत के अपेक्षा जनवादी कुछ संकुचित भावभूमि पर पल्लवित हुआ है तथा इसके विकास क्रम में कुछ पूर्वाग्रही राजनीतिक–चिंतन का भी आरोपण रहा है, किन्तु नवगीत इस आरोप से सर्वथा मुक्त है। दोनों ही विधाएँ गेय हैं, छान्दस हैं तथा समकालीनता से सम्पृक्त हैं।

"वर्तमान युग में नवगीत काव्य संसार एवं समकालीनता का प्रर्याय बन चुका है और इसके पृथक कर अपने युग की पहचान असंभव प्रतीत होती है, जीवन की आपाधापी में एक ऐसी लक्ष्यहीन दौड़ चल रही है जिसका अंत अंतिम साँस के ही साथ होता है, विखण्डन, बिखराव, विसंगति, विषमता की परिधि में जीवन की उन्मुक्त सहजता एवं स्वाभाविकता जो उसकी स्वभावगत विशेषता है चिन्ताओं एवं समस्याओं में उलझ कर तार–तार हो चुकी है और प्रत्येक व्यक्ति एक बनावटी जीवन जीने को विवश है जिसमें मन रोता है किन्तु अधरों पर मुस्कान रहती है। संवेदनाहीन व्यवस्था के प्रति प्रत्येक ह्रदय में आक्रोश एवं प्रतिरोध का सागर भरा है। मानव की स्वाभाविक सहनशक्ति को निर्मम परिवेश ने सोख लिया है और जिजीविषा के पथ में त्रासदी बढ़ती जा रही है, ऐसी जटिल परिस्थिति में नवगीत ही पाखण्ड को खण्ड–खण्ड करता हुआ, अँधेरे को छिन्न–भिन्न कर, छल–छद्‌म के पर्त दर पर्त छिलके उतारता, मानवीय अस्मिता को जीवन्त बनाने का सफल कर रहा है, निश्चय ही नवगीत ने मानवता को नूतन जीवनशक्ति प्रदान की है और समय की आवश्यकता के अनुरूप

[1] सम्यक– संपा. मदनमोहन उपेन्द्र, मथुरा, अंक २८ – पृ.१२३

अभिव्यक्ति में जन साधारण की त्रासदियों एवं कुण्ठाओं को पूरी ईमानदारी के साथ यथार्थ रूप में चित्रित करते हुए, पाठकों को इस दिशा में चिन्तन करने हेतु प्रेरित किया है जिसके दूरगामी परिणाम निकलने की प्रबल संभावना है। समय की धारा अविच्छिन्न रूप से निरन्तर आगे बढ़ती रहती है किन्तु धारा की गति के साथ तटवर्ती दृष्य भी परिवर्तित होते रहते है और यही परिवर्तन तत्सम्बन्धी अनुभूतियों एवं भावनाओं के कारण हमारी अभिव्यक्ति की प्रवृत्तियों में भी बदलाव लाता है तथा परम्परागत रूढ़िग्रस्त विचारों में भी नूतन दृष्टिकोण में परिपूर्ण अभिनव चेतना जाग्रत कर देता है। भौतिक जगत की अपेक्षा साहित्य जगत में परिवर्तन की प्रक्रिया अधिक तीव्र होती है और इसमें शीघ्र परिलक्षित होने लगता है जिसके परिणाम स्वरूप समयानुकूल तथा आवश्यकतानुरूप जनाकांक्षाओं की अपेक्षा में सक्षम साहित्य का सृजन होता है जिसमें युगबोधी समकालीन परिवेश के साथ भाव–शिल्प–शब्द विन्यास–प्रतिक–बिम्ब–कथ्य एवं कहन का विकसित एवं नूतन स्वरूप स्वतः प्रकट होने लगता है जिसकी काल सापेक्षता, प्रासंगिकता तथा अभिनव प्रयोगशीलता टटकेपन का एहसास कराने में सक्षम होती है तथा जन–जन की संवेदनाओं से जोड़ती है। परिष्कृत, सुसंस्कृत, न्यूनतम शब्दों की संरचना, परस्पर व्यवहार में प्रयुक्त सहज एवं बोधगम्य प्रवाहपूर्ण भाषा और अभिव्यक्ति में सत्यनिष्ठा, छान्दसिक लयबद्धता प्रवाहपूर्ण भाषा और अभिव्यक्ति में सत्यनिष्ठा, छान्दसिक लयबद्धता के साथ लोकमानस की निकटता सामाजिक चेतना के विविध आयामों को व्यापक बनाती है जिसकी सामर्थ्य एक मात्र नवगीत में ही दिखाई पड़ती है।''[1]

युग परिवर्तन के साथ, वैयक्तिक स्थापनाओं के साथ, तात्कालिक समस्याओं तथा आस्था–विश्वासों के साथ और संस्कृति एवं मानव मूल्यों के क्षरण के साथ,

---

[1] मध्य भारती, अंक १३ – पृ.१९

इनके अतिरिक्त अनेक अपरिहार्य विसंगतियों तथा हर क्षेत्र में अव्यवस्थाओं के फलस्वरूप गीत कब नवगीत में परिवर्तित हो गया, इसे तो डॉ. शंभुनाथ सिंह ने पहचाना और सामयिक आवश्यकता के अनुरूप नयी कविता के समकक्ष नवगीत नाम से अविहित किया, जो अब तक किसी भी कालखण्ड में अप्रासंगिक नहीं किया जा सका जबकि इसके विपरीत अनेक विधायें एक आंदोलन की तरह आई और अपनी क्षणिक चमक दिखा कर समय के गर्त में विलीन हो गयी। नवगीत की रचनात्मक प्रवृत्ति में अनेक गुणात्मक उपलब्धियाँ, उसके कलेवर, शब्द–विन्यास, भाव एवं कथ्य के संरचनात्मक धरातल पर अभिनव शिल्प में परिलक्षित हुई जिनमें तीक्ष्ण धार है, अपूर्व तेवर है और ऐसी मारक क्षमता है जो प्रत्येक मन में संवेदना उत्पन्न कर पाषाण को भी पानी–पानी कर देती है। अनेक नवगीत के विद्वानों ने अपने व्यक्तिगत अहम की संतुष्टि हेतु अलग–अलग नामकरण करने का प्रयास किया किन्तु उन्हें पाठकों ने नकार दिया और अन्ततः नवगीत शब्द ही रूढ़ हो गया जो अधी शताब्दी की यात्रा पूर्ण करते हुए वर्ष बहुआयामी हो चुका है और वर्तमान समय में काव्य की मुख्यधारा बन चुका है, नया गीत, आज के गीत, ऐंटीगीत, ताजागीत, टटके गीत, प्रतिबद्ध गीत, जनबोधी गीत, जनवादी गीत, जनगीत, परागीत, पुनर्नवगीत, समकालीन गीत, नवान्तर गीत आदि नाम नवगीत के सम्मुख अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सके। उक्त नामधारी स्वरूपों रंग–प्रभाव–आचरण–संबोधन–बुनावट–कसावट एवं समस्त आनुषंगिक परिवर्तन संपूर्णता के जिस बिन्दु पर एकाकार होकर एकाग्रता–एकात्मता ग्रहण करते हैं वहीं वास्तविक नवगीत की संज्ञा सार्थक करता है। अनेक रूपों में भी गीत की आत्मा, उसका शाश्वत भाव, उसका चिन्तन, उसकी संवेदना चेतना को प्रभावित एवं सकारात्मक चिन्तन की प्रेरणा देती है। नवगीत की तथ्यपरकृता, समसामयिक संवेदनशीलता उसकी प्रासंगिकता एवं सम्प्रेषणीयता के गुणत्व का बोध

कराती है। जब हम हिन्दी काव्य के गत आधी शताब्दी से चली आ रही धारा का अनुशीलन एवं मंथन करते हैं तो नवगीत के अतिरिक्त अन्य कोई विधा इनती भाव-प्रवणता से लोक संवेदना का साक्षात्कार नहीं कराती हो, जिसमें जनसाधारण के दुख-सुख और समाज में व्याप्त विसंगतियों का जीता-जागता चित्रण हो, मानव-मूल्यों के क्षरण की पीड़ा हो, भूख-प्यास, शोषण-उत्पीड़न का यथार्थ चित्रण हो, जिसमें राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक भ्रष्टाचार-विषमता-छल-छद्म-पाखण्ड और कुरीतियों का कच्चा-चिट्ठा हो और प्रतिरोध एवं आक्रोश का तेवर हो। नवगीत आम जनता के जीवन से जुड़ा उनकी परिधि के हर पहलू का कालजयी गायन है जिसका युग बोधीय समकालीन प्रदेय शब्दातीत है।

"सर्वप्रथम गीति रचनाओं में नूतनता का समावेश हमें वर्ष १९५२ में अज्ञेय के सम्पादन में प्रकाशित द्वितीय तारसप्तक में दिखाई पड़ता है जिसकी प्रखर पुनरावृत्ति वर्ष १९५८ में राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित संकलन (गीतांदिनी) में प्रकाशित गीतों में होती है जिन्हें सर्वप्रथम नवगीत अथवा नये गीत की संज्ञा दी गयी। तत्कालीन परिवेश में उक्त काव्य संकलन ने इतना प्रभावित किया कि अनेक पत्रिकाओं ने वैसे ही गीतों के विशेषांक प्रकाशित किये और उस नये प्रवर्तन के तथा गीतों के समसामयिक युग बोधक अभिनव कायाकल्प के सम्बन्ध में आचार्यों, विद्वानों एवं गीतकारों में चर्चा-परिचर्चा का स्वरूप सबको आंदोलित कर गया। पूरे भारत के हिन्दी काव्य जगत में स्थान-स्थान पर गोष्ठियों का आयोजन होने लगा जिसमें नागार्जुन, धर्मवीर भारती, वीरेन्द्र मिश्र, डॉ. शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, रमेश रंजक, नईम, देवेन्द्र कुमार, प्रो. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', गुलाब सिंह, उमाकांत मालवीय, रवीन्द्र भ्रमर, किशन सरोज आदि गीतकार सर्वाधिक प्रख्यात हुए, जिन्होंने गीतों को नयी दिशा देकर नवगीत का बीज साहित्य की उर्वर धरती पर बोया, जो आज विशाल

वट–वृक्ष हो गया है जिसकी छाया में साधना कर कितने रचनाकार बोधिसत्व होते जा रहे हैं। बोधिसत्व होने का अर्थ है अभिव्यक्ति की इयत्ता में निजी अस्मिता को विलीन कर समविष्ट को समर्पित हो जाना, जिसकी विशिष्ट प्रविधि का आविष्कार कर तत्कालीन गीत महर्षियों ने अभिनव सौंदर्यबोध की सृष्टि की जो नवगीत की प्रमुख विशेषता है। वर्तमान नवगीत मन एवं मस्तिष्क का समन्वय है जिसमें यथार्थ एवं शिल्प के प्रतीकात्मक बिम्ब अपनी आनुभूतिक, विश्वसनीय, तार्किक अभिव्यक्ति से रचनाकारों ने संवेदना के प्रतिमान स्थापित कर, काव्य–जगत को नूतन आयाम दिया।''[1]

प्रारम्भ में जो नवगीत रागात्मक आंचलिकता से परिपूर्ण था, कालान्तर में विकास के द्वितीय चरण में नगरीय विसंगतियों, समसामयिक समस्याओं से जूझता अनास्थावादी हो गया जिसमें वर्ग संघर्ष, पूँजीवादी व्यवस्था में शोषण–उत्पीड़न, रूढ़ियों–पाखण्डों के विरुद्ध आक्रोश एवं जुझारू भाव व्यक्त होने लगते हैं। इस क्रम में सोम ठाकुर, उमाकान्त मालवीय, प्रो. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' माहेश्वर तिवारी, देवेन्द्र कुमार, शलभ श्री राम सिंह, शांति सुमन तथा नचिकेता आदि ने पुनः नवगीत में अस्तित्ववादी वैचारिकी को प्रतिष्ठित किया और सौन्दर्यबोध में भी विचारधारा के परिवर्तन से नूतनता आयी जिसके अंतर्गत ''पाँच जोड़ बाँसुरी'' (वर्ष १९६६) का प्रकाशन चन्द्रदेव सिंह के संपादन में हुआ जिसे नये मूल्यों की स्थापना में महत्वपूर्ण कड़ी माना जाता है जिसमें सम्पादक के अनुसार वर्ष १९४१ से १९६१ के मध्य सृजित एवं प्रकाशित ऐसे गीतकारों को प्रस्तुत किया गया है जिसमें उस कालखण्ड की मानुषी मनस्थिति का स्पष्ट दर्शन मिलता है। इस संकलन में निराला और माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं के साथ डॉ. शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह,

---

[1] अभिव्यक्ति, कोटा, अंक–१७, पृ. २३

वीरेन्द्र मिश्र, रामचन्द्र 'चन्द्रभूषण', चन्द्रदेव सिंह, सोम ठाकुर, सूर्य प्रताप सिंह, रवीन्द्र 'भ्रमर', केदार नाथ सिंह, देवेन्द्र कुमार, अमरनाथ, नईम, माहेश्वर तिवारी आदि चालीस रचनाकारों का प्रतिनिधित्व हुआ है। डॉ. राजेन्द्र गौतम के अनुसार 'नवगीत आज अपने समय की जिह्वा है, वह युगबोध को समग्रता से व्यक्त कर रहा है, काव्य–तत्व को अक्षुण्ण रखकर समय के सत्य को उद्घाटित करने का महत्वपूर्ण कर्म नवगीत कर रहा है।' (उत्तरशती का गीत–नवगीत) वर्ष १९५० से १९६५ की अवधि में लोक संवेदना नवगीत की प्रमुख प्रवृत्ति बन गया और उसके उपरान्त नवगीत कथ्य–शिल्प की दृष्टि से लोक संवेदना के नये आयाम प्रस्तुत करता वर्ष १९८० तक ठाकुर प्रसाद सिंह की परम्परा का अनुगामी बन कर लीक–बद्ध यात्रा करता रहा। किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकी। नवगीत में पुनः परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे और वह अपनी नूतन आभा से काव्य जगत को प्रभासित करने लगा। उक्त अवधि में 'नवगीत दशक' ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। १९८२, ८३, ८४ में लगातार डॉ. शम्भुनाथ सिंह के सम्पादन में प्रकाशित इन संकलनों में तीस नवगीतकारों के प्रतिनिधि गीत संकलित हैं जिसने नवगीत को समूह–मन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर लोकप्रियता के शिखर तक पहुँचाने में कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी, फलस्वरूप नवगीत को नयी दिशा मिली जिसने नवगीत का निखरा रूप प्रस्तुत किया, इसके अतिरिक्त 'अर्धशती' भी प्रकाशित हुई जिससे नवगीत को नयी प्रतिष्ठा के साथ सुदृढ़ आधार मिला। इसके ८१ नवगीतकारों का प्रतिनिधित्व है।

"इसी प्रकार 'कविता–६४', संपादक ओम प्रभाकर तथा 'यात्रा में साथ–साथ' जिसके संपादक प्रो. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' है और 'नवगीत एकादश' जिसका संपादन डॉ. भारतेन्दु मिश्र ने किया है आदि संकलन नवगीत की प्रमुख प्रवृत्तियों को

भली–भाँति दर्शाते हैं। उपर्युक्त नवगीत संकलन नवगीत संकलनों में तत्कालीन चर्चित नवगीतकारों की प्रतिनिधि रचनायें संकलित हैं जो नवगीत को नूतन स्वरूप में परिभाषित करने में सक्षम हैं। ऐसे श्रेष्ठ रचनाकारों में डॉ. शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, उमाकान्त मालवीय, रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', श्री कृष्ण तिवारी, नईम, ओम प्रभाकर, मुकुट सक्सेना, रामचन्द्र चन्द्रभूषण, किशोर काबरा, अवध बिहारी श्रीवास्तव, अनूप अशेष, नचिकेता, राम सेंगर, विजय किशोर 'मानव', मयंक श्रीवास्तव, इसाक 'अश्क', कुँवर वेचैन, विष्णु विराट, विनोद निगम, शांति सुमन, जहीर कुरेशी, योगेन्द्र दत्त शर्मा, अश्वघोष, श्याम नारायण मिश्र, कौशलेन्द्र, गुलाब सिंह, उमाशंकर तिवारी, नीलम श्रीवास्तव, कैलाश गौतम, दिनेश सिंह, कुमार रवीन्द्र, राधेश्याम शुक्ल, बुद्धिनाथ मिश्र, डॉ. राजेन्द्र गौतम आदि प्रमुख रूप से उभर कर सामने आये जिन्होंने नवगीत की अनवरत यात्रा का मार्ग प्रशस्त किया। नवगीत की विकास यात्रा में अनेक परिवर्तनों के साथ अवरोधों की झड़ी लगती रही किन्तु इसका प्रवाह और वेग अप्रतिहत रहा। अन्य विधाओं, परम्परावादियों एवं नयी कविता के विद्वानों के श्रृंखलाबद्ध आक्रमण भी उसे आतंकित नहीं कर सके और हर संघर्ष के उपरान्त वह और भी वेग एवं पराक्रम से अग्रसर होकर दिन प्रतिदिन निखरता रहा। नवगीत की विकास यात्रा के सहयात्री सुप्रसिद्ध साहित्यकार और श्रेष्ठ नवगीतकार कुमार रवीन्द्र ने अपने आलेखों के माध्यम से नवगीत की संरचना, विविधता और विशिष्टता की पहचान कर लिखा है 'नवगीत का वैविध्य अपने संसार में उपस्थित है, जीवन्त है, विधाओं के विकास में कोई भी चीज मरती नहीं इसी प्रकार नवगीत को भी अमरत्व प्राप्त हुआ है। पहले कुछ वर्षों के कालखण्ड में गीत के कथ्य, उसकी कहन, उसके शिल्प, सभी में बदलाव आया है। गीत की कहन अधिक सहज हो चुकी है। यह इक्कीसवीं सदी का नवगीत है जो कई पड़ावों से होता हुआ चौथे पड़ाव पर

है।' यह स्थिति अब साफ हो चुकी है कि वर्तमान समवर्ती विधायें जो नवगीत के 'उत्तरायण' ऊपर आक्रामक हैं, उसे पकड़ पाने में नितान्त असमर्थ हैं और उनका महत्व भी दिनोदिन ह्रास की ओर पतनोन्मुख है। अब साहित्य मर्मज्ञ यह पहचान चुके हैं और महसूस भी कर रहे हैं कि वर्तमान तो नवगीत का है ही, भविष्य भी उसी का है। नवगीत जीवन के समस्त आयामों को आत्मसात कर चुका है और इससे हटकर काव्य–सृजन की कल्पना भी असंभव लगती है। यद्यपि पूर्व में भी नवगीत में नये–नये हस्ताक्षरों का स्वागत योग्य पदार्पण होता रहा किन्तु वर्तमान में नवगीतकारों की पूरी फौज ही काव्य जगत में नये कथ्य, नये शिल्प और नयी कहन के साथ प्रत्येक चुनौती को तैयार है जिसमें शीलेन्द्र कुमार सिंह 'चौहान', राधेश्याम 'बन्धु', भारतेन्दु मिश्र, महेश अनघ, ओम प्रकाश सिंह, जगदीश श्रीवास्तव, अशोक गीते, मधुकर अष्ठाना, हरीश निगम, वीरेन्द्र आस्तिक, यश मालवीय, निर्मल शुक्ल, गणेश गम्भीर, सुधांशु उपाध्याय, ब्रजनाथ श्रीवास्तव, राम सनेही लाल शर्मा 'यायावर', विनय भदौरिया, मृदुल शर्मा, मधुसूदन साहा, श्याम निर्मम, रविशंकर पाण्डेय, विनोद श्रीवास्तव, जयकृष्ण राय 'तुषार', कुमार शिव, रामबाबू रस्तोगी, जय चक्रवर्ती, राजेन्द्र वर्मा, सुरेश श्रीवास्तव, जवाहर 'इन्दु', रमाकान्त, सुश्री शरद सिंह, कृष्ण बक्षी, अतुल 'कनक', विष्णु विराट, सत्य नारायण, डॉ. देवेन्द्र, विश्वनाथ पाण्डेय, लालसा लाल 'तरंग', हरीश सक्सेना, अश्वघोष, रमेश पन्त आदि सैकड़ों रचनाकार निरन्तर सृजन में संलग्न हैं और प्रतिवर्ष प्रकाशित हो रही नवगीत कृतियों की गणना भी संभव नहीं रह गयी है। नवगीत कोई आंदोलन नहीं बल्कि गीत का क्रमिक विकास है जो समयानुकूल परिवर्तनशील और सर्वदा समकालीन अभिनव सौन्दर्यबोध का जीवन्त रूप है जिसमें परम्परा नवता और गेयता का अपूर्व सामंजस्य है औरा कथ्य को न्यूनतम शब्दों में प्रतीकों बिम्बों और मिथकों के माध्यम से हर कथ्य को नयी

शिल्पिता में नयी कहन की रंगिमा–भंगिमा में मुहावरों लोकोक्तियों तथा देशज शब्दों के प्रयोग से नये शब्द विन्यास में, सहज रूप से प्रस्तुत करने की क्षमता है जो जन–साधारण के निकट, उन्हीं की अनुभूतिक यथार्थ गाथा है।"[1]

जनगीत के नारों के तहत सही बात उछालने वाले रचनाकारों में रमेश रंजक, शंकर द्विवेदी, शलभ श्रीराम, महेन्द्र नेह, नीरज आदि के जनवादी गीत ध्यानाकर्षित हुए हैं।

व्यक्ति और समष्टि के जीवन संघर्षों का स्वर नवगीत में भी है और जनगीत में भी। दोनों ही प्रयोगवादी अभिमतों की जमीन एक ही है। दोनों के सोच का वृत्त भी एक ही परिधि में सिमटा है।

व्यक्ति जीवन के अंतः संघर्ष में जितना नवगीत आन्दोलित हुआ है, उतना ही जनगीत भी।

आज व्यक्ति जितना बाह्य संघर्ष से पस्त है उतना ही अंतः संघर्ष से। इस दोहरे संघर्ष ने उसे पूरी तरह हतबल कर दिया है। व्यक्ति के जीवन की, ऊब, निर्थरता, निराशा, बेचैनी, छटपटाहट भविष्य के प्रति भय, प्रेम की क्षणिकता से उत्पन्न निराशा, मृत्यु भय, मृत्यु–पीड़ा की काल्पनिक यंत्रणा, सूखते सम्बन्ध, टूटन थकान सभी यथार्थ स्थितियों का नवगीत में अंकन हुआ है। नवगीत में रिक्तता बोध बहुत तीव्र है। मौन, उदासी, नितान्त, अकेलेपन में भटकती आवाजों का विषम संगीत नवगीत में है। आज व्यक्ति केन्द्रित वृत्तियों का उत्थान होने से साहित्य में व्यक्ति का महत्व बड़ा है। यह पूर्व साहित्य की प्रतिक्रिया है। पहले व्यक्ति को समाज का अंग मानकर समाज का वर्णन किया जाता था। व्यक्ति वर्णन उसमें आनुषंगिक रूप से आ जाता था। इसके विरोध स्वरूप छायावादी युग से साहित्य में व्यक्ति को, उसके

---

[1] नवगीत, नई दस्तकें, पृ.१३

भावगत संसार, उसकी कोमल परुष भावग्रंथियों को प्रधान्य दिया जाने लगा। नवगीत ने तो व्यक्ति मन में झाँकने का प्रयास किया है। मनोविज्ञान की उन्नति ने व्यक्तिमन के रहस्यों का जहाँ उद्घाटन किया है, वहीं, उसकी मानसिक समस्याओं का वर्धन भी, इसमें आधुनिक यंत्र–युग की व्यस्तता का भी बड़ा हाथ है।

एक दर्द
आह सर्द
अपनों से गई छली
बिना अर्थ / कुढ़ी जली
एक चूक / एक हूक
बिछुड़े तो खबर न ली।

भीड़ में अकेलेपन की पीड़ा के कुछ चित्र –

बड़ी भीड़ है ढूँढ़े कहाँ अकेलापन
छू कर भाप अहम् की धुँधलाए दरपन

तथा

छा गया आकाश पर पीला धुँधलका शाम का
आ रहा है याद मुझको रंग तेरे नाम का
मैं अकेला और बेबस हो गया हूँ इस तरह
एक बच्चा हो समन्दर के किनारे जिस तरह।

तथा

यह अकेलापन मुझे पीने लगा

मैं नहीं यह ही मुझे जीने लगा
और थोड़ी देर का है सिलसिला
सोचना है व्यर्थ का खोया, मिला।

मन में चक्रवात चलते हैं विचारों के और इस मानसिक संत्रास से जानलेवा घुटन का उद्भव होता है –

यह शताब्दी ऐसी जैसे बन्द कुआँ
दम घुट रहा हमारा कुछ कम करो धुँआ
जिस ने द्वापर की हत्या कर दी
हम पर उसी प्रेत की छाया है।

तथा

अक्सर ऐसा होता है
सब जंजीरें खुल जाने के बाद भी
कैदी अपने को कैदी ही पाता है।

तथा

यह अकेलापन, अँधेरा, यह उदासी, यह घुटन
हार तो है बन्द भीतर किस तरह झाँके किरण।

एवं

भीतर भी बाहर भी दरपन ही दरपन है
भाग कर कहाँ जाऊँ
भीतर के सन्नाटे, बाहर के शोर से

घिरा हुआ चारों की ओर से

तड़प – तड़प जाता हूँ

मुक्ति के उपाय नहीं सूझते।

उदासी के कुछ यथार्थ चित्र बड़े प्रभावी बने हैं –

धुँधलाई सड़कों पर कुम्हलाए चेहरे हैं

शाम की उदासी है

घिरती अँधियारी के धूल भरे जूड़े में

गुँथा फूल बासी है

दृश्य सभी उजड़े हैं, रंग सभी उखड़े हैं

जमे कहाँ मेरा मन।

तथा

चुभते रहे आँख में मेरी निशि – भर टूटे हुए सपन

और वक्ष को रहा रौंदता बोझिल–बोझिल सूनापन

चारों ओर उदासी मेरी ही मुझ को यों दीख रही

जैसे चिटखे हुए आइने में प्रतिछायाएँ अनगिन।

एक–एक कर मेरी सब उम्मीदों ने दम तोड़ दिया

सभी प्रतीक्षाओं ने मेरा हाथ सहमकर छोड़ दिया

अब मैं हूँ या विदा माँगता हुआ दिए का धुँआ विकल

मेरे सब संकल्प अधूरे, मेरा पूरा सृजन विफल।

आधुनिक जीवन की विडम्बना देखिए –

दुःखों का तो कहना ही क्या

सुख में भी हम उदास लगे।

अन्तर की कडुआहट, ऊबी तनहाई और अहम् के सम्बन्ध में स्वयं से की गई वार्ता गीतकार यों रेखाँकित करता है –

काफी के प्यालों में कब तलक डुबाओगे

अंतरंग कडुआपन

मुझ से यह पूछा है उकताई शाम ने

और मैं निरुत्तर हूँ

केवल कोहरा नहीं

भटकाता पाँवों को क्षितिज स्वयं

और भी निरीह बना देता है व्यक्तित्व को

क्षुद्र अहम्।

स्वप्नभंग की एक स्थिति देखिए –

काम यों तो आज तक कितने अधूरे रह गए

अनगिनत संकल्प धारा में समय की बह गए

स्वप्न जो देखे कभी थे जिन्दगी की भोर ने

पी लिए वे बेरहम ठण्डे शहर के शोर ने।

स्वप्नभंग होने पर भी गीतकार अपनी वेदना से कहता है कि उसे कुण्ठा की गन्ध नहीं सहेजना चाहिए –

ओ मेरी सूर्यमुखी वेदना

कुण्ठा की गन्ध मत सहेजना।

मन में भय का प्रतिबिम्ब देखिए –

डरी हुई हैं मेरी सारी अभिलाषाएँ कुछ ऐसे
जैसे घुप्प अँधेरे कमरे में कोई बच्चा कमसिन।

मन की टूटन को बड़े सुन्दर प्रतीक से अभिव्यक्त किया गया है –

यह किस नृशंस की सेना गुजरी थी
फौलादी पहिए रौंद गए मुझ को।
मैं कभी फूल से ज्यादा महँगा था
मैं आज धूल से ज्यादा सस्ता हूँ।

जीवन पथ की थकान का चित्र भी बड़ा ही सहज बन पड़ा है –

इन पथरीले वीरान पहाड़ों पर
जिन्दगी थक गई है चढ़ते – चढ़ते
क्या इस यात्रा का कोई अंत नहीं
हम गिर जाएँगे थक कर यहीं कहीं।
हम से किस ने कह दिया कि चोटी पर
है एक रोशनी का रंगीन नगर
क्या सच निकलेगा उस का यही कथन
या निगल जाएगी हम को सिर्फ थकन।

वेदनाओं की मुरझी पंखुड़ियाँ भी मर्मस्पर्शी है –

यह अबूझ बेनाम उदासी

यह तन से निर्वासित मन

ये संदर्भहीन पीड़ाएँ : दरपन में बिम्बित दरपन।

थकन और चुभन का यथार्थ बिम्ब दर्शनीय है –

ग्लैमर का नशा टूटता है जब

बड़ी थकन होती है

आँखों में स्वप्न नहीं, अश्रु नहीं

सिर्फ चुभन होती।

स्वयं के अस्तित्व बोध सम्बन्धी, नरभक्षी प्रश्न अनादिकाल ने मनुष्य को संत्रस्त करते आए हैं। आज भी उन्होंने उसका पीछा नहीं छोड़ा है –

हम हैं कौन, कहाँ से आए हम को क्या होना है

इन प्रश्नों का सार खोजना व्यर्थ समय खोना है

क्योंकि मिलेगा जो भी उत्तर वह केवल भ्रम होगा

दर्द हीनता और व्यर्थता का न कभी का होगा।

आसन्न मृत्यु व धर्म के बारे में व्यक्ति का आत्मसंघर्ष –

रूप और गन्ध और कैसे भोगूँ जब

संयम ही सारे उपदेशों का मर्म है।

आधे में मृत्यु और आधे में धर्म है

जीवन के महक भरे स्वप्न कहाँ बोऊँ मैं।

मनोविज्ञान की खोज ने मनुष्य को स्वयं के सम्बन्ध में अधिक सोचने का अभ्यासी बनाया है। इस आत्मरीत वृत्ति की झलक देखिए –

मुझ में अब मेरापन बचा नहीं

मुझ को मेरे मन ने रचा नहीं

यह रेशम और रतन और वसन

लौटा लो

मुझे एक दरपन दो

मरने से पूर्व मुझे एक और जीवन दो।

व्यक्ति स्वयं को जीवित लाश समझता है, आत्मा जो मर चुकी है उसकी। पहले शरीर मर जाते थे आत्मा अमर रहती थी। हमारे पूर्वजों ने कुछ तरक्की ज्यादा की, उनके शरीर के साथ आत्मा मरने लगी और हम आज के औद्योगिक युग के वासी, भौतिक सम्पन्नताओं के स्वामी, अपनी लाश अपने कन्धों पर ढोते फिरते हैं। क्योंकि हमने इतनी अधिक तरक्की कर ली है, कि हमारी आत्मा तो पहले मर जाती है और शरीर समय आने पर मृत्यु को समर्पित होते हैं। इसलिए जीने हेतु विकल्प खोजे जाते हैं –

जो हम में भरा हुआ रीता है

जो हम में भरा हुआ जीता है

आओ, उस वैकल्पिक अनुभव को पहचानें

सम्भव है

एक वही जीने की शर्त हो

धुँए और धुँध भरे इस युग में।

आज वह आत्मा प्रशंसा को अश्लाघ्य नहीं समझता –

चाहे वे सरस न हों, चाहे वे सफल न हों

मुझ को तो प्यारी हैं वे ही अभिव्यक्तियाँ

जो नितान्त मेरी हैं।

खीज घुटन की रेखाएँ भी बड़ी सशक्त हैं –

एक घुटन कुहरे – सी क्या फैली

टूट गई गीतों की डोर

बिजली सी कौंध गई खीज

यायावर की।

तथा

मुरझ गई बतियाती डाल हरी

घर – बाहर अनबोली घुटन भरी

अंकवारों छन्द भरे अभिनन्दन को

सम्बोधन दो–।

उदासी के कुछ सुन्दर चित्र दृष्टव्य हैं –

ऊपर तक / धारदार उगी वर्जना सी

डाल गई / कन्धों पर

चिल्हकती उदासी।

तथा

उदासी की पर्त सी जमने लगी

रेंगती सी भीड़ फिर थमने लगी।

तथा

फाइलों वाले / सभी चेहरों पर

टंगे हैं / एक से जाले।

एकरसता –

ऊबे – ऊबे खाली / सुर्खियाँ भिगोने में

रहा नहीं / कुछ भी

बिलकुल सूना होने में।

उदासी के साथ मन का विद्रोह –

खिड़कियों पर / उदासी / आकर खड़ी होने लगी

मोम – से पिघलाव / तन से छूटकर कोने लगे

खूँटियों पर / टंग गया फिर / नींद का मौसम

उबलते भीतर किसी ज्वालामुखी से हम।

मनुष्य भीड़ से बचकर एकान्त में रहना चाहता है, पर जल्दी ही उससे ऊब जाता है। उसकी सामाजिक वृत्ति उसे चैन से एकान्त में रमने नहीं देती। एक स्थिति ऐसी आती है, कि उसे अकेलापन असहनीय होने लगता है –

तना जाले सा / अकेलापन

कहाँ तक झेले / अकेला मन।

अपनापन भी स्वयं से अजनबी होता है और फिर दुखी हो जाता है। ये आधुनिक जीवन से मिली विचित्र मनःस्थितियाँ है –

एक गुमशुदा – / सा अपनापन

जेब और रुमालों में नभ / सड़कों पर

आवाज लगाता / लावारिस कुत्तों सा मौसम।

आज व्यक्ति का अपने आप पर संयम नहीं है। मन का अस्थैर्य बढ़ रहा है क्योंकि आस्था के स्थानों पर से उसका विश्वास हट गया है –

पता नहीं कब / क्या कर सकता है

मन का धुँधला आवेश।

मन के अस्थैर्य का पृथक भावान्वेषी चित्र –

वनस्पति का / हरापन / ढूँढ़ता है फिर

यह भटका हुआ मन

छोड़ आए हम / हिमानी घाटियों में

धार की चंचल सयानी छाँह।

गीतकार को सिर्फ मनुष्य ही नहीं पूरा शहर ही थकानों से आप्लावित लगता है–

फिर उन्हीं / सूने घरों में / लौटता है शहर

यह थकन का / बोझ / नीली पड़ी संध्याएँ

चीरता – सी / कटखनी आवाज।

चुप्पी का एक शब्द बिम्ब –

शब्द होठों से / जड़े हैं /पेड़ मुर्दों – से / खड़े हैं।

रिक्तता बोध, थकन और ऊब भरा चित्र देखिए –

सिर्फ एक खाली / टिन की तरह

बजने वाला सूनापन

भीड़ भागती मिली / लौटे तो थके हुए काफिले
सिर्फ ऊब का बौनापन दिया
हमसे जुड़ती हथकड़ियों ने।
न कोई रोशनी / पर एक प्रतीक्षा गीत
साथ होता है हमेशा / एक खालीपन
बहुत ऊबा हुआ।

उकताहट से भरी वेदना की छबि दृश्यांकित है –

दिन बड़े हो गए / जैसे कुछ अपाहिज
पाँव पर अपने / खड़े हो गए
चिटकने लग गई / फैली कुछ अदद
खामोशियाँ
कपकपी एकान्त के / गहरे क्षणों की / तन गई फिर
फेंककर बैसाखियाँ।

असुविधाएँ और उनके साए में पलता हीन ग्रंथि से भरा अविश्वासी मन, आज के व्यक्तियों में से अनेकों की यही सच्ची तस्वीर उतारती ये पंक्तियाँ देखिए –

इतना छोटा सा / आकाश मिला
हम अपने पंख कहाँ तक खोलें
एक अपाहिज – सा / विश्वास मिला है जिनको
अपने को कहाँ तक टटोलें।

बेवजह ऊब और वीरानियाँ भी आज के युग की देन हैं –

बासी खबरों जैसे / लगते हैं

कामों के दिन हों या खाली इतवार।

तथा

दिन उदासियों के किस्से हैं

रात एक सुनसान किला है।

दुख, अभाव और उससे उत्पन्न कुण्ठा की एक झलक –

जाने किन सिरफिरे अभावों में

रद्दी के भाव बिके हम

बेमौसम

निज – निर्मित कुण्ठा के घेरों से

ऊबे तो

अपने अवमूल्यन पर पछताएँ।

वेदना का बोलता हुआ एक रुप –

थके मजदूर – सा तम

खटखटाता बन्द दरवाजे

तुम्हें आवाज पर आवाज

देते घाव ये ताजे।

पश्चात्ताप की एक छबि –

भूलें अँकुरायी जब

अनछुई उदासी में

अपने से हार गए हम

टहनी – सा दर्प झुका

सूनेपन में

मन दोषी ठहरा

रंग उड़ा अपराधों का

मंथन में

बरसों का गहरा

कुण्ठा ने तोड़ दिया दम।

मनुष्य के अंतर्द्वन्द का एक चित्र –

ऐसा भूचाल उठा है भीतर

ढुलक रहे हैं पर्वत

रोक नहीं पाती चंदन बाहें

जाने क्यों दूरागत

अपशकुनी तारे ने फेंक दिए

मुट्ठी – भरकर दुर्दिन।

यंत्रणा, संत्रास, कुण्ठा, अनमनापन, जड़ता की मिली जुली तस्वीर देखिए –

शब्दहीना वेदना को / बींधता सायास

दुहरा शोर / खींचता है अजगरी संत्रास भूखा

मुट्ठियों का बन्द खालीपन / अचेतन

धमनियों में तैर जाता बाँस का वन

टूटता अपनत्व कुण्ठित / व्योम से विच्छिन्न

उल्कापात / थक गई है नब्ज जब संवेदना की

निवेदन ओढ़ धूमिल धूप पीता अनमनापन।

अहम्बोध अर्थात स्वत्व के ज्ञान के कारण अकेलेपन का एहसास ज्यादा बढ़ जाता है –

मैं ही दर्शक भी औ एक बड़ा मेला हूँ,

बोलती हुई यादों बीच मैं अकेला हूँ,

तन जलता मन जलता, जलता सारा घर है

दूरी का सूरज तो आपे से बाहर है।

व्यक्ति को अपने जीवन में विपरीतताओं पर मात कर अपना विकास करना पड़ता है –

गुलाब उग आया / खण्डहर पर

अनगढ़ माटी की / कई – कई पर्तें

अनुकूल कंकड़ की / अव्याहत शर्तें

अनचाहे बोझ पत्थरों के / हटा दिए सिर से

धूप पहन / उमग रहा जी भर।

कहीं – कहीं विपरीत स्थितियों के कारण उसका सफर पक्षाघात से प्रताड़ित अर्थात अवरुद्ध हो जाता है –

पक्षाघातित सफर / अचानक / ठहर गया है / अथवा

किसी बड़ी इच्छा – मशीन ने / धक्का देकर रोक दिया है

रक्त बीज की गूढ़ प्रतीक–कथा के / अर्थ खोजने वाले

किसी रहस्यान्वेषक के पावों को / और।

अनुकूलताओं – प्रतिकूलताओं, प्रिय – अप्रिय बातों से दुनियाँ की चादर का ताना – बाना हुआ है। इसलिए हमेशा परिस्थितिगत अनुकूलता की चाह, आकाशकुसुम की तरह होगी। पहले लोग ईश्वर में अटूट श्रद्धा के विश्वासी थे। प्रतिकूल परिस्थितियों में ''होई है सोई जो राम रचि राखा, को करि तरकि बढ़ावहि साखा'' कहकर, भाग्य का अवलम्ब ले संतोष वृत्ति अपनाकर शान्त रह जाते थे। आज आस्था के पलड़े डगमगाकर व्यक्ति की श्रद्धातुला असंतुलित कर देते हैं। परिणामस्वरूप मानसिक असंतोष उत्पन्न होता है, जो सभी मनोविकारों की जड़ है। मन में विचारों का कोलाहल, अधिक चिन्ता, रिक्तताबोध को जन्म देता है –

दड की हुई सीमेंट छत की तरह

रसा नहीं

जिसके मन – मंद्राचल को

जहरीले दर्द के बासुकि ने कसा नहीं

माना।

तथा

मैंने बहुत – बहुत सोचा है

कि युगधर्म

मुझे धारण कर लेगा

कर्म मुझे उबार लेगा

किन्तु

किसी से कुछ नहीं हुआ

यही सूनापन मेरे मददगार है

यही मन की रिक्तता –

हमदर्द है।

इसी सूनेपन से भरे मन को जिन्दगी अपाहिज लगने लगती है –

हर अंतर्दाह / जिन्दगी है / या / कानी बेटी का ब्याह।

" आज बुद्धिजीवियों को लगता है, कि समाज रूपी बाजार में उनके नाप का कुर्ता नहीं है, जबकि वास्तविकता तो ये है, कि वे हर कुर्ते में कुछ नुक्स निकालकर नापसंद कर जाते हैं और रीतेपन के हमसाये बने रहते हैं।"[1] ऊपर से कृत्रिम हास्य बिखेरते असहाय बने रहते हैं –

स्वाभिमान के

ताजे पुष्पों को कृत्रिम हँसी के

लबादे में ढँक दिया

फटी हुई कमीज के ऊपर

नए कोट की तरह

पहन लिया जिन्दगी को बार–बार

अंतर्प्रदेश में

बसते हैं फणिधर, डसते हैं।

धीरे – धीरे यह असहाय स्थिति उनमें जड़ता की भावना का उद्‌भव कर देती है –

---

[1] साठोत्तरी हिन्दी गीतिकाव्य, परम्परा और प्रयोग – क्रांति लोधी, पृ.३०१

सपनों तक फैल गई / दफ्तर की फाइलें
संवेदन आलपीन में / नत्थी हैं
सन्नाटे की सुइयाँ / चुभोती दिशाएँ
पत्थरों की मार से / अर्थ – टूटे नीर का / तालाब।

मनोविज्ञान के प्रवेश ने विचारों में कोलाहल मचाया है –

अनियंत्रित स्मृतियों की टकराहट / खिन्न कर्ण सुनते आह
जैसे कोई आए / धर्म – पदच्युत, अयथार्थ
अवहृत संज्ञाधारी / व्यवहृत या
अस्वीकृत को / साथ ले चले।

व्यक्तिमन, ऊब और बेचैनी, का निकेत बन गया है –

जिन्दगी / पानी भरी छत–सी
टपकती ही रही / बचपन से
खुरदरे दिन बाज आए नहीं / दंशन से।

व्यक्ति मन विभिन्न विषमताओं में बँट गया है –

टूट गई दोस्ती / आई जब दर्पण में
अफसरी नजर / कतराकर गुजरने लगा मेरा डर
ग्रंथित मन / बित्ते भर का नहीं आयतन
धरती है गणित की किताब / बता गई मेरी भटकन मुझे
आया अलगाव / जब अलावों में सिर उठे।

तथा

आज जब / पाया अकेलापन

खाली घर, खुला आँगन / गहने को निकाला खोदकर के

बंधु / इतना खुरदुरा था वह

तबीयत न हो पाई / कि रख लें गोद पर।

संवादहीनता की स्थिति भी आज के युग की सौगात है –

सिमट गई हैं कछुए – सी बातें

दिन में दो दिन हुए

रात में चार – चार रातें

तेवर बदला अक्षर – अक्षर का।

आज व्यक्ति स्वयं से बात करने को तरस गया है। इसलिए चाहता है, कि रविवार को कोई उसके यहाँ न आए –

मुझ निर्धन का धन है –

एक दिन

रविवारे मत आना।

ऊबन ने, कोमल प्यार की बाहों में भी ऊबासी का कसैलापन भर दिया है –

कब तक ढोता रहूँ / सुनहरी समझौते की लाश

बात हो गई रात अँधेरी / देह कसैली गन्ध

कतराने लग गए हमारे / आपस के सम्बन्ध।

मन तो इन सब से रुग्ण बन गया है –

मन भीतर के अस्पताल में

रोगी पड़ा अनाथ / क्या करूँ।

मनुष्य की छटपटाहट उसे निर्बल बना देती है –

तोड़ दूँ धमनियों का पुल?

अरे ! कहाँ से लाऊँ

शक्ति वह अतुल

कदम – कदम मुँहबाए / अजदरे

पाँत चलते ही रहे / पेट के कहे।

" समाज में हर जगह अवहेलना पाकर व्यक्ति के जीवन में हीनताबोध का अजगर पैंडुलि मार कर बैठ जाता है और अन्दर ही अन्दर विष उगलकर व्यक्ति के अस्तित्व को मिटाता रहता है –

कुण्ठित एहसासों से कण्ठ में रुँधे हैं हम

हाथ के पसीने से रचे हुए

भाग्य के थपेड़ों से पचे हुए

मानक होने की प्रत्याशा में

पाद टिप्पणी होकर बचे हुए

धुराहीन जीवन की डोर पर सधे हैं हम।

कच्चे क्वारे यौवन / बुढ़ा गए

गर्म बिस्तरे असमय / जुड़ा गए

भरकर सौबार जिए पता नहीं

अमृत या जहर – पिए – जीवित हम काल की चुनौती से।

इस हीनता, रिक्तता के एहसासों से, निर्धन के धन सा मिला रविवार भी, यों ही चला जाता है, उमंगों की फुहार बिन बरसाए –

बिना उगे चले गए / सूरज इतवार के
फीकी, कड़वी, काली चाय सी सुबह
घटिया सिगरेटों ने फूँका रह – रह
विज्ञापन चिढ़ा रहे / दैनिक अखबार के।

समाज में जड़ता की दुर्गंध, ठहरेपन की निर्जीवता के एहसासों का धुँआ सब ओर फैला रही है –

दफ्तर से टी – हाऊस तक फैले
मुर्दा संपर्कों के जाल।
समाधान खोजती निगाहों में
डरे हुए झाँकते सवाल
बड़बोले बौनों की यात्रा में
विद्रोही उष्मा का ठण्डा आवेश।

यह धुँआ व्यक्ति में बौनेपन के एहसास को तीव्र कर रहा है, वह स्वयं से कहने लगता है –

कौन – सी क्रान्ति तू ही कर पाएगा
पैगम्बर मत बन, छोड़ मसीहाई
तू बिना बात सूली चढ़ जाएगा
इतिहास बनाने की चिन्ता मत कर

तू विस्तृत कर अपना भूगोल यहाँ।

इन सबके बावजूद, मन के किसी कोने में, सद्भावों का दिया टिमटिमाता ही रहता है, जिसे दीनों से सहानुभूति है, क्षीण विश्वास की ज्योत साथ है –

महफिल की वाचाल कहानी

रोती दूर रह गई मुझसे

लेकिन खण्डहर की खामोशी

अनगिन अर्थ कह गई मुझसे।

वेदना तो व्यक्ति की भँवर बड़ी सहधर्मिणी बनी रहती है –

पीड़ा तो मानव की बाल विवाहिता

आँसू उनके यौवन का सिन्दूर है।

पर जब उसके आँसू भी छिनने लगते हैं तो –

आँसुओं तुम भी पराई आँख में रहने लगे हो

अब तुम्हें मेरे नयन इतने बुरे लगने लगे हैं।

उसके मन को आघात होता है वेदना तो उसकी चिर सखी है –

एक भी सपना नहीं दुखता नहीं जो

एक भी इच्छा नहीं आहत नहीं जो

एक भी काँटा नहीं जन्मा कि जिसने

चौंक कर मेरा किया स्वागत नहीं हो।

उदासी शहरों में ही नहीं गाँवों में भी अँधेरा करने लगी है –

एक धुँधलका छाया और – पास

धूप गाँव बाहर ही छूट गई

छप्पर – बैठक सब बिलकुल उदास

पगडण्डी दरवाजे पर टूट गई

भारी था मन

हम थे काफी टूटे हारे।

थके – हारेमन का अकेलापन भी असह्य टूटनों का सिलसिला होता है –

निपट अकेला रहा न जाए

सूनापन अब सहा न जाए

मन की मन में करवट बदले

दीवारों से कहा न जाए।

मनुष्य की दुर्बलताएँ उसमें बौनेपन का एहसास भर देती हैं वह अपने से प्रश्न करता हुआ कहता है –

हम निस्सहाय – निरुपाय

हीनताओं के पुतले। क्यों हैं

हम इतने निरीह, इतने बौने

इतने उथले?

और इन प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर, उसमें पराजयबोध को जगाता है –

जा बैठे कहीं किसी कोने में

अपनी यात्राएँ लिए

मौन – पराजित – इच्छाहीन

साँस बन्द किए और

शेष इन लोहित निमिषों में

अपने अन्तर का

घन अंधकार जोड़ दें।

व्यक्ति ने वेदनाओं का खोल लिहाफ अपने ऊपर इस तरह चढ़ा लिया है कि उसे उसका नया जन्मदिन भी मुबारकबाद नहीं दे पाता –

मेरे चारों ओर

एक अतीद्रिंय परिवेश है

जिसमें वस्तुओं के अर्थ निचुड़ गए हैं

और उनकी आकृतियाँ विकृत होकर

एक दूसरे से मिल गई हैं

मेरे इस परिवेश में

दिशाएँ तो हैं

मगर उनके कोण नहीं हैं

यह मेरे

नए जन्म का दिन है।

कुण्ठाओं के कुहासे, आज मनुष्य को शीत हवाओं में कैद करते रहते हैं –

घुटनों में सर छिपे हुए

कुण्ठाओं के निदान हैं

कुहरों में गर्क घर हुए

स्थगित हो गए विहान हैं

आस्था भक्षी अंधी मूरतें प्रतिमाएँ टूटें तो कैसे?

ये शीत हवाएँ उसमें ठिठुरन पैदा कर उसे जड़ बना देती हैं। अपनी जड़ता में वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। संवेदनहीन स्थिति का वह परिचय पत्र बन जाता है–

रह गया न कोई एहसास

क्या बुरा भला

छाँछ पर कोई विश्वास

दूध का जला

शब्द बचे अर्थ खो गए

ज्यों मिलन विरह।

एकरसता के शोर से मनुष्य की ऊब स्वाभाविक है –

रूढ़ हो गई सारी मुद्राएँ

अर्थ, जरा जर्जर से खाँसते

कितना यांत्रिक

आदत सा लगता

डूब रहा सूरज या हो विहान।

तथा

गाओ कि ताजगी का स्वर डूबने लगा है

वीरान गुम्बदों का जी ऊबने लगा है

ठहरो कि आदमी को फिर एक बार खोजें।

तथा

अगर यह जिन्दगी है जिन्दगी से हम तो बाज आए
अँधेरे तो अँधेरे थे उजालों तक ने भरमाए।

एवं

हमें घेरे रहा वाचाल बातूनी अकेलापन
तुम्हारी भीड़ से संवाद कब करते
बड़े दिलचस्प चौराहे
मगर मन ऊब जाता है
यहाँ हर रास्ता बे – मन / किसी में डूब जाता है।

आज का मनुष्य अशान्त है, बेचैन है –

यह दुख भरी राह जब मेरे / जीवन की अभिव्यक्ति बन गई
तब मेरे पाँवों में ताकत / आई दिशा मोड़ देने की
तब बेचैनी सी होती है / रह – रह कर मन घबराता है
बहुत पुराने काँटें को भी / जिस दिन दूर किया जाता है।

तथा

सिर्फ ताले, किवाड़ें, सलाखें नहीं
एक दीवार तक भी नहीं है कहीं
एक ऐसी भयानक हवालात है
और मैं कैद हूँ।

एवं

हर समस्या बनी मरखनी गाय – सी
बेकली साथ थी बेकली साथ है
और मैं कैद हूँ।

यही बेचैनी, उदासी का कभी न टूटने वाला शिलाखण्ड तैयार करती है, जिसमें वह खुदकशी पर आमादा हो जाता है और इस मृत्यु पीड़ा को जीवन की एक शैली मानने लगता है –

खुद–कशी अभिव्यक्ति की बस एक शैली रह गई है
आज आँगन से उदासी द्वार तक फैली हुई है
ये असुर जो कर रहे हैं चैन से आकाशवाणी
कर रहा स्वीकार इसका एक जिम्मेदार मैं हूँ।

खुदकशी न कर पाने की स्थिति में जीवन जीने की विवशता उसे और भी असहाय बना देती है –

ये गिलास इनकी तारीफ क्या कीजिए
प्यास ने तृप्ति के वस्त्र धारण किए
हम पिएँ भी मगर तो कहाँ तक पिएँ
जिन्दगी में भरा जब गरल ही गरल।

संवेदनाशून्य भावहीन मनुष्य स्वयं को मरा हुआ देवता मानता है –

मंदिर के घेरे से बाहर
एक शिलाखंड सा गढ़ा है
मरा हुआ देवता बना मैं

सब कुछ झेलता खड़ा हूँ।

उसे जीवन कैदखाना और मृत्यु स्वतंत्रता की राह प्रतिभात होती है –

सब ओर खाइयाँ हैं, सब ओर हैं सुरंगें
हर बात है पहेली, हर साँस है फसाना
हर रोशनी कफन है
है कब्र हर अंधेरा
हर शाम है धुएँ की
है राख हर सवेरा
यह आसमाँ बना है ताबूत जिन्दगी का
घुटती हुई जमी है घुटता हुआ जमाना
शक्लें कटी – पिटी सी रिश्ते लिपे – पुते से
वीरान खण्डहरों में है मौत का तराना।

चतुर्दिक उसे अशान्ति का बसेरा जमा दिखाई देता है –

परियों के / शिविर हुए / सारे सीमान्त
सुख की / इच्छाओं से / साँझ है अशान्त
नए वस्त्र पहन रहे पर्वत के ढाल।

सपनों की कब्रें उसे खुदी दिखती हैं –

उतर आई / सड़कों पर / रेशम की मीनारें
डरकर / खामोश हुईं / खण्डहर की दीवारें
रंगमहल के सपने लद गए मजूरों पर।

वह प्रतिदिन समीप आते वार्धक्य, की आहट लेता है –

काँपते कैलेंडर पर / पिछली तारीखें / बता रहीं / कितनी हैं

बुढ़ा रही लीकें / अगले दिन हफ्तों को कौन यहाँ ढूँढ़ें।

इस तरह नवगीत ने व्यक्तिमन से अप्रकाशित अनगाए कोनों में अपनी यथार्थपरक दृष्टि से झाँकने का प्रयास किया है। उसके मनगव्हर की भावधाराओं में अवगाहन किया है।"[1]

सामान्य जनवादी संचेतना के स्वर ही सामयिक व्यक्ति संघर्ष की तस्वीर सामने रखते हैं। जो साहित्य सामान्य आदमी के जीवन संघर्षों को स्पर्श नहीं कर सकता। वह आम – आदमी की संवेदना के स्वरों को ही प्रस्तुत नहीं कर सकता।

अतः काव्य में जनवादी सामान्य संचेतना के स्वरों की अनुगूंज नितांत अपेक्षित है जो आज के नवगीतों में व्यंजित हुई हैं।

---

[1] साठोत्तरी हिन्दी गीतिकाव्य, परम्परा और प्रयोग, पृ.३२०